भारतीय चिंतन में दान की महिमा

बाबूलाल जैन 'उज्ज्वल' बम्बई

सम्पादक - समग्र जैन चातुर्मास-सूची जैनएकता-संदेश...

भारत के समस्त धर्मों में, इस तथ्य में किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है कि 'दान' एक महान् धर्म है। दान की भेद-प्रभेद व्याख्या एवं परिभाषा चाहे विभिन्न हो सकती है, परन्तु 'दान' एक प्रशस्त धर्म है, इस सत्य में जरा-भी अन्तर नहीं है। दान-धर्म उतना ही पुराना है, जितनी मानवजाति है। दान का पूर्व रूप सहयोग ही रहा होगा। सह-अस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग आवश्यक भी था। समाज में सभी प्रकार के व्यक्ति होते थे - दुर्बल भी और सबल भी। अशक्त मनुष्य अपने जीवन को कैसे धारण कर सकता है ? जीवन धारण करने के लिए भी शक्ति की आवश्यकता है। शक्तिमान मनुष्य ही अपने जीवन को सुचारू रूप से चला सकता था और वह दुर्बल साथी का सहयोग भी कर सकता था। यह सहयोग समानता के आधार पर किया जाता था और यह किसी प्रकार की शर्त के किया जाता था। न तो सहयोग देने वाले में अहंभाव होता था और न सहयोग पाने वाले में दैन्य-भाव होता था। भगवान महावीर ने अपनी भाषा में परस्पर के इस सहयोग को 'संविभाग' कहा था। संविभाग का अर्थ है - सम्यक् रूप से विभाजित करना। जो कुछ तुम्हें उपलब्ध हुआ है, वह सब तुम्हारा अपना ही नहीं है, तुम्हारे साथी, पड़ौसी का भी उसमें, सहभाव था सहयोग रहा है। महावीर के इस 'संविभाग' में न अहं का भाव है और न ही दीनता का भाव। इसमें एकमात्र समत्व भाव ही विद्यमान है। लेने वाले के मन में जरा भी ग्लानि नहीं है, क्योंकि वह अपना ही हक ग्रहण कर रहाहै और देने वाला भी यही समझ रहा है कि मैं यह देकर कोई उपकार नहीं कर रहा हूँ। लेने वाला मेरा अपना ही भाई है, कोई दूसरा नहीं है।

बाद में आया 'दान' शब्द। इसमें न सहयोग की सहृदयता है और न संविभाग की व्यवस्था एवं दार्शनिकता ही है। आज के युग में 'दान' शब्द काफी बदनाम हो चुका है। देने वाला दान देता है अहंकार में रहकर और लेने वाला ग्रहीता लेता है, सिर नीचा करके। देने वाला अपने को उपकारी मानता है और लेने वाला अपने को उपकृत। लेने वाला बाध्य होकर लेता है और देने वाला भी दबाव से ही देता है। आज के समाज की स्थिति ही इस प्रकार की हो गई है कि लेना भी पड़ता है और देना भी पड़ता है। न लेने वाला प्रसन्न है और न देने वाला ही। यही कारण है कि 'दान' शब्द से पूर्व कुछ विशेषण जोड़ दिए गए हैं - जैसे - 'करुणादान', 'अनुकम्पादान' एवं 'कीर्तिदान' आदि।

वैदिक षड्दर्शनों में दानमीमांसा -

वैदिक परम्परा में षड्दर्शनों में सांख्य-दर्शन और वेदांत दर्शन ज्ञान प्रधान रहे हैं। दोनों में ज्ञान को अत्यंत महत्त्व मिला है। वहाँ आचार को गौण स्थान मिला है। वेदमूलक षड्दर्शनों में एक मीमांसादर्शन को छोड़कर शेष पाँच दर्शनों में दान का कोई महत्त्व नहीं है, न उसका विधान है, न उसकी व्याख्या ही की गई है।

श्रमण-परम्परा में दानमीमांसा

वेदविरुद्ध श्रमणपरम्परा में तीन सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं - जैनबौद्ध और आजीवक। आजीवक-परम्परा का प्रवर्तक गौशालक था। वह नियतिवादी के रूप में भारतीय दर्शनों में बहुचर्चित एवं विख्यात था। उसकी मान्यता थी कि जो भाव नियत हैं, उन्हें बदला नहीं जा सकता। आज के इस वर्तमान युग में आजीवक-सम्प्रदाय का एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, अतः दान के सम्बन्ध में गौशालक के क्या विचार थे, कुछ भी कहा नहीं जा सकता। उसके नियतिवादी सिद्धांत के अनुसार तो उसकी विचारधारा में दान का कोई फल नहीं है।

बौद्ध-परम्परा में आचार की प्रधानता रही है। इस परम्परा में शील को प्रधानता दी गई है। मनुष्य-जीवन में उत्थान के लिए जितने भी प्रकार के सत्कर्म है, वे सब शील में समाहित हो जाते हैं। बुद्ध ने शील को बहुत ही महत्त्व दिया है। दान भी एक सत्कर्म है, अतः यह भी शील की ही सीमा के अंदर आ जाता है।

बौद्ध धर्म में बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए जिन दस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारमिताओं का वर्णन किया गया है, उनमें से एक पारमिता दान को भी माना गया है। दान के सम्बन्ध में बुद्ध ने 'दीघनिकाय' में कहा है कि 'सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, दोषरहित पवित्र दान दो' इस प्रकार के दान को पवित्र दान कहा गया है। बुद्ध ने कहा है कि श्रद्धा से दिया गया दान प्रशस्त दान है। यदि दान में श्रद्धा-भाव नहीं है, तो वह दान तुच्छ दान है। धर्म का दान सब दानों से बढ़कर है। धर्म का रस सब रसों से श्रेष्ठ है।

जैन-परम्परा में भी दान को एक सत्कर्म माना गया है। जैन-धर्म न एकांत क्रियावादी है न एकांत ज्ञानवादी है और न एकांत श्रद्धावादी ही है। श्रद्धा, ज्ञान और आचरण इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष की संप्राप्ति होती है, फिर भी जैन धर्म को आचार-प्रधान कहा जा सकता है। ज्ञान कितना भी ऊँचा हो, यदि साथ में उसका आचरण नहीं है, तो जीवन का उत्थान नहीं हो सकता। जैन परम्परा में सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र को मोक्ष-मार्ग कहा गया है। दान का सम्बन्ध चरित्र से ही माना गया है। आहारदान, औषधिदान और अभयदान आदि अनेक प्रकार के दानों का वर्णन विविध ग्रंथों में उपलब्ध होता है। भगवान महावीर ने 'सूत्रकृतांग' में अभयदान को सबसे श्रेष्ठ दान कहा है।

'अभयदान' ही सर्वश्रेष्ठ दान है। दूसरे के प्राणों की रक्षा ही अभयदान है। आज की भाषा में इसे ही जीवनदान कहा गया है। भगवान महावीर ने कहा है कि 'मेघ चार प्रकार के होते हैं - एक गर्जना करता है, पर वर्षा नहीं करता। दूसरा वर्षा करता है, पर गर्जना नहीं करता। तीसरा गर्जना भी करता है और वर्षा भी करता है। चौथा न गर्जना करता है और न ही वर्षा करता है। मेघ के समान मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं - कुछ बोलते हैं, देते नहीं। कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नहीं। कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं। कुछ न बोलते हैं, न देते ही हैं। इस कथन से दान की महिमा एवं गरिमा स्पष्ट हो जाती है। जैनपरम्परा में धर्म के चार अंग स्वीकार किए गये हैं - दानशील, तप एवं भाव। इनमें दान ही मुख्य एवं प्रथम है। 'सुखविपाकसूत्र' में दान का ही गौरव गाया गया है।

भगवान महावीर ने बहुत सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया है। 'मुधादायी' और 'मुधाजीवी'। दान वही श्रेष्ठ है, जिससे दाता का भी कल्याण हो और ग्रहीता का भी कल्याण हो। दाता स्वार्थ - रहित होकर दे और पात्र भी स्वार्थशून्य होकर ग्रहण करे। वह दान, जिसके देने से दाता के मन में अहं-भाव न हो और लेने वाले के मन में दैन्यभाव न हो। इस प्रकार का दान विशुद्ध दान है। यह दान ही वस्तुतः मोक्ष का कारण है। न देने वालों पर किसी प्रकार का भार और न लेने वालों को किसी प्रकार की ग्लानि। यह भव बंधन काटने वाला दान है। यह भव-परम्परा का अंत करने वाला दान है।

इसी प्रकार ब्राह्मण और आरण्यक-साहित्य में भी दान को विशेष महत्त्व दिया गया है। रामायण, महाभारत एवं संस्कृत महाकाव्यों में भी दान के विषयों में काफी विस्तार से वर्णन करते हुए दान की महिमा का उल्लेख किया है। सभी ने दान को उत्कृष्ट दान कहा है। कवि कालिदास, तुलसी, कबीर, रहीम आदि कवियों ने भी दान की महिमा सुन्दर ढंग से कही है।

भारत के धर्मों के समान बाहर से आने वाल धर्मों - ईसाई और मुस्लिम धर्मों में भी दान का बड़ा ही महत्त्व माना गया है। इन धर्मों में दान की महिमा का ही वर्णन नहीं किया गया, बल्कि दान पर बल भी दिया गया है। दान के अभाव में ईसा मनुष्य का कल्याण नहीं मानते। बाइबिल में दान के विषय में कहा गया है कि तुम्हारा दायाँ हाथ जो देता है, उसे बायाँ हाथ न जान सके, ऐसा दान दो। कुरआन में दान के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर कहा गया है कि प्रार्थना ईश्वर की तरफ आधे रास्ते तक ले जाती है। उपवास महल के द्वार तक पहुँचा देता है और दान से हम अन्दर प्रवेश करते हैं । जिसमें दान देने की शक्ति है उसके पास देने को कुछ भी नहीं और जिसमें देने की शक्ति न हो, वह सब कुछ देने को तैयार रहता है। अतः दान देना उतना सरल नहीं है, जितना समझ लिया जाता है। दान से बढ़कर अन्य कोई पवित्र धर्म नहीं है। एक कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है कि दान से सभी प्राणी वश में हो जाते हैं, दान से शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया भी अपना हो जाता है। दान महिमा सभी विपत्तियों का नाश कर देता है। इस प्रकार समस्त साहित्य दान से भरा पड़ा है। दान की परम्परा संसार में भूतकाल में भी थी। वर्तमान में भी है और भविष्य में भी हमेशा विद्यमान रहेगी।

जैन-परम्परा में आचार्य अमितगति के द्वारा लिखा गया एक ग्रंथ 'अमितगति-श्रावकाचार' में बड़े विस्तार के साथ दान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की मीमांसा की गई है। ग्रंथ में लिखा है कि दान, पूजा, शील और उपवास भवरूप को भस्म करने के लिए ये चारों ही आग के समान है। पूजा का अर्थ है जिनदेव की भक्ति। भाव के स्थान पर पूजा का प्रयोग आचार्य ने किया है। दाता के कुछ विशेष गुणों का भी आचार्य ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है - विनीत हो, भोगों से निःस्पृह हो, समदर्शी हो, परीषहसही हो, प्रियवादी हो, मत्सररहित हो, संघवत्सल हो और सेवापरायण भी होना चाहिए। दान की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है कि जिस घर में से योगी को भोजन न दिया गया हो। उस गृहस्थ के भोजन से क्या प्रयोजन? कुबेर की निधि भी उसे मिल जाए, तो क्या ?

योगी की शोभा ध्यान से होती है, तपस्वी की शोभा संयम से होती है, राजा की शोभा सत्यवचन से होती है और गृहस्थ की शोभा दान से होती है। जो भोजन करने से पूर्व साधु के आगमन की प्रतीक्षा करता है, साधु का लाभ न मिलने पर भी वह दान का भागी है।

दान के चार भेद कहे हैं - अभयदान, अन्नदान, औषधदान एवं ज्ञानदान। अन्नदान को आहारदान भी कहा जाता है और ज्ञान-दान को शास्त्रदान भी कहते हैं। पंचमहाव्रत-साधु को उत्तम पात्र कहा गया है। देशव्रतधारक श्रावक को मध्यम पात्र कहा है। अविरतसम्यग् दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है।

विधिपूर्वक दिया गया थोड़ा दान भी महाफल प्रदान करता है, जिस प्रकार धरती में बोया गया छोटा-सा वट-बीज भी समय पर एक विशाल वृक्ष के रूप में चारों ओर फैल जाता है, जिसकी छाया में हजारों प्राणी सुख भोग करते हैं, उसी प्रकार विधि-सहित छोटा-सा दान भी महाफल देता है।

दान के फल के सम्बन्ध में आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा है, जैसे - मेघ से गिरने वाला जल एकरूप होकर भी नीचे आधार को पाकर अनेक रूपों में परिणत हो जाता है, वैसे ही एक ही दाता से मिलने वाला दान विभिन्न - उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों को पाकर विभिन्न फल वाला हो जाता है। अपात्र को दिए गए दान के बारे में कहा गया है कि जिस तरह कच्चे घड़े में डाला गया जल अधिक देर तक नहीं टिक पाता और घड़ा भी फूट जाता है, वैसे ही गुणहीन अर्थात् अपात्र को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है और लेने वाला नष्ट हो जाता है।

आचार्य ने अपने ग्रंथ में चार प्रकार के दानों का वर्णन किया है - अभयदान, अन्नदान, औषधदान एवं शास्त्रदान। वस्तुतः देने योग्य जो वस्तु हैं, वे चार ही होती हैं। अभय को सबसे श्रेष्ठ दान कहा गया है। मंगलपाठ में भी दान की महिमा का वर्णन किया गया है -

''भवि भावन भाविये, भावे कीजे दान ।
भावे धर्म आराधिये, पावे केवल ज्ञान ॥''

दान से आज पूरे भारत की सभी तरह की संस्थाएँ जीवित हैं, जिस दिन दान देने की प्रवृत्ति बंद हो जाएगी, उस दिन संसार में कुछ नहीं बचेगा। दान भूकाल में भी दिया जाता था, वर्तमान में भी दिया जाता है और भविष्य में भी दिया जाता रहेगा। कबीर ने कहा भी है -

चिड़ी चोंच भर ले गयी, नदी न घटियो नीर,
दान देने से धन न घटे, कह गए दास कबीर ।

दान की महिमा सर्वोपरि है, सभी दानों में अभयदान सर्वोपरि है।

जय जिनेन्द्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org